[मुरली मनोहर]

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ८४

गीतावार्त्ता (१६)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रथम संस्करण १००० प्रति] आषाढ़ २०२८ जून १९७१

प्रकाशक :
संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी)
प्रयाग

● मुद्रक :
वंशीधर शर्मा
भागवत प्रेस
८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

विषय-सूची

—०—

कीर्तनीयो सदा हरिः

सचित्र

भागवत चरित

(सप्ताह)

रचयिता—श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी

श्रीमद्‌भागवत के १२ स्कन्धों को भागवत सप्ताह के क्रम से ७ भागों में बाँट कर पूरी कथा छप्पय छन्दों में वर्णन की है। श्रीमद्‌भागवत की भाँति इसके भी साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक पारायण होते हैं। सैकड़ों भागवत चरित व्यास बाजे तबले पर इसकी कथा कहते हैं। लगभग हजार पृष्ठ की सचित्र कपड़े की सुदृढ़ जिल्द की पुस्तक की न्योछावर ६)५० मात्र है। थोड़े ही समय में इसके २३००० के ५ संस्करण छप चुके हैं। दो खंडों में हिन्दी टीका सहित भी छप रही है। प्रथमखंड प्रकाशित हो चुका है। उसकी न्योछावर ११) है। दूसरा खंड प्रेस में है।

"भागवत चरित" प्रशिक्षण सुविधा ★

संकीर्तन भवन भूसा में

भागवत चरित सत्र भूसी संकीर्तन भवन मे तथा वंशीवट संकीर्तन भवन वृन्दावन में कई हुए। जिनमें लगभग १५०-२०० भागवत चरित व्यासो को प्रमाण पत्र दिये गये। जिनमे से अनेकों व्यास बाजे तबले से "भागवत चरित" की कथा कहकर लोगों में धर्मप्रचार कर रहे हैं और उससे द्रव्य अर्जन करके अपने कुटुम्ब का पालन पोषण भी कर रहे हैं।

इधर ८-१० वर्ष तक गौरक्षा के कार्य में संलग्न रहने के कारण सत्रों का आयोजन न हो सका। हाँ, संकीर्तन भवन, वंशीवट वृन्दावन में एक भागवत विद्यापीठ स्थायी रूप से स्थापित हो गयी है, जिसमें श्रीमद्भागवत पढ़ाई जाती है। छात्रों के भोजनादि का प्रबन्ध भी आश्रम की ओर से है। उनमें से भी बहुत से छात्र भागवत लगाकर निकले हैं और उसी के द्वारा अपना योग क्षेम चला रहे हैं।

इधर डेढ़ दो वर्ष से मैं स्थायी रूप से संकीर्तन भवन भूसी में रहने लगा हूँ। भागवती कथा भी अब

नियमित रूप से निकलने लगी है। ८४ खंड अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। आगे के खंड भी प्रकाशित हो रहे हैं, प्रायः प्रति मास एक नया खंड निकल जाता है। पिछले चुके हुए पुराने खंड भी फिर से छपते रहते हैं।

मुट्ठीगंज प्रयाग में जो संकीर्तन भवन का भागवत प्रेस है, उसकी दशा भी दयनीय हो गयी थी, अब उसकी भी दशा सुधर गयी है, उसका भी अपना निजी विस्तृत भवन बन गया है। अर्थ सहित भागवत चरित खूब मोटे अक्षरों में बड़े आकार में दो खंडों में छप रहा है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है।

अब हमने सोचा है, भागवत चरित का प्रशिक्षण पुनः आरम्भ हो। सोचा यह है, कि वर्ष में चार-चार महीने के तीन सत्र किये जायँ। पहिला अपाढ की गुरुपूर्णिमा से कार्तिक की पूर्णिमा तक, दूसरा कार्तिक की पूर्णिमा से फाल्गुन की पूर्णिमा तक, तीसरा फाल्गुन की पूर्णिमा से अपाढी पूर्णिमा तक इन चार महीनों में प्रशिक्षणार्थी ६० घंटों तक पूरी भागवती कथा पढ जायँ, भागवत चरित के कम से कम ८ परायण हो जायँ और काम चलाऊ बाजा बजाना सीख जायँ तथा प्रवचन करने का-कथा

कहने का-अभ्यास कर लें। उन्हें अपने आप भागवती कथा के एक खंड को दो दिन में पढ़कर समाप्त करना होगा। भागवत चरित के कम से कम ८ पाक्षिक पाठ करने होंगे। कथा सत्संग मे अनिवार्य रूप मे आना होगा, नियमित संगीत सीखना होगा। अखंड कीर्तन में १ घंटा नियमित कीर्तन करना होगा। इस प्रकार उन्होंने भली-भाँति मन लगाकर अध्ययन किया और परिश्रम पूर्वक पढ़ा, तो चार महीने पश्चात् उन्हे "भागवत चरित व्यास" की उपाधि मिलेगी प्रमाण पत्र दिया जायगा। अध्ययन तो उन्हे स्वयं ही करना होगा। आश्रम से तो उन्हे पढ़ने की सुविधा दी जायगी और मार्ग दर्शन कराया जायगा। ऐसे हम प्रत्येक सत्र में १० प्रशिक्षणार्थी ही ले सकेंगे। उनके भोजन का रूखा सूखा जैसा आश्रम मे बनता है प्रबन्ध यहाँ से किया जायगा। अध्ययन को पुस्तकें भी मिलेंगी। उन्हें आने जाने के मार्ग व्यय का प्रबन्ध स्वयं करना होगा, अपना बाजा स्वयं लाना होगा। आगामी गुरुपूर्णिमा (ता० ८ जुलाई सन् १९७१) से पहिला सत्र आरम्भ हो जायगा। प्रशिक्षणार्थी की अवस्था १८ वर्ष से कम न हो। अधिक चाहे जितनी हो संस्कृत की मध्यमा, अथवा संस्कृत लेकर प्रवेशिका (इंटर)

पास हो, या उतनी ही योग्यता की दूसरी कोई परीक्षा उत्तीर्ण हो या उतनी योग्यता हो। बिना यहाँ से स्वीकृति प्राप्त किये कोई कदापि न आवें। यहाँ से स्वीकृति पत्र मिलने पर ही आवें। जो प्रशिक्षणार्थी इसमें सम्मिलित होना चाहें वे पत्र व्यवहार करें। १—*निःशुल्क भोजन*, २—*निःशुल्क आवास तथा निःशुल्क पाठ्य पुस्तकें इतनी ही सुविधायें आश्रम* की ओर से मिलेंगी।

संकीर्तन भवन,
प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)

विनीत
प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

| संस्मरण (३) पिछले खंड का शेष |

उन्होंने नोकरों से सामान बांधने को कहा—सब सामान छकड़ों में लद गया। सन्त की दी हुई वह घन्टी भी सामानों के साथ बाँधकर रख दी गयी। जिन बड़े डेगचों में चावल बनता था, उन्हें माँजकर गाडी में रखने लगे। उनके नीचे जला हुआ भात जमा हुआ था, उसे खुरचकर नीचे रख दिया गया। उसी समय एक पागल-सा पुरुष आया और बोला—"सेठजी! भूख लगी है, कुछ खाने को दो।"

सेठ ने कहा—"अरे, बाबा आप तो बहुत देर से आये अब तो सब सामान बँध गया।"

पागल से पुरुष ने कहा—'कुछ भी दे दो।"

सेठ ने सामने पात्रों में से खुरचा हुआ जले हुए चावलों का ढेर देखा। उसी में से थोड़ा भात उठाकर उस पुरुष के हाथ पर रख दिया। उसने उसमें से चार चावल मुख में डाल लिये। चावल मुख में डालकर वह पुरुष चला गया। सेठजी ने आश्चर्य के साथ देखा, सामान में बँधी वह घंटी अपने आप बज रही थी, अब भक्त को चेत हुआ अरे, ये ही सिद्ध पुरुष थे। वह उनके पैर पकड़ने दौड़ा, थोड़ी देर तो वे जाते हुए दिखायी दिये फिर अन्तर्धान हो गये।

सेठ ने कहा—"सिद्ध पुरुष के दर्शन तो हुए वह भी पृष्ठ भाग के, किन्तु चरणस्पर्श का सौभाग्य नहीं हुआ। चलो इतना ही मेरा सौभाग्य था।"

बात यह है, कि सिद्ध पुरुष किस समय किस वेष में कब आ

नाय इसका कोई निश्चय तो है नहीं। वे सभी रूपों में आ सकते हैं। अत प्राणीमात्र मे प्रेमभाव रखने के लिये शास्त्र की आज्ञा है।

ऐसी प्रसिद्धि है, कि महाराष्ट्र मे जहाँ श्रीज्ञानेश्वर महाराज की समाधि है उस आलन्दी क्षेत्र मे मधुकरी देने से दिन मे एक बार कभी न कभी किसी भी वेप मे दत्तात्रेय महाराज वहाँ मधुकरी लेने आ जाते हैं। अत. उस क्षेत्र म मधुकरी का बडा माहात्म्य है। यदि आप मे सामर्थ्य है तो वहाँ मधुकरी दो, नहीं तो वहाँ की मधुकरी लो। मधुकरी के वहाँ कई क्षेत्र हैं, हमारे एक परम-भक्त बम्बई के गगाशकर भाई व्यासजी हैं, वे भी वहाँ सदा मधुकरी दिलाते रहते हैं। मैं भी एक बार उस पुण्य क्षेत्र मे गया था, तब तक मैं वहाँ का मधुकरी की महिमा नहीं जानता था। माधुकरी उसे कहते हैं जैसे भौरा एक ही फूल से रस पान नहीं करता। अनेक फूलों से थोडा-थोडा रस लेता है, जिससे किसी को विशेष कष्ट न हो। जो सत मधुकरी वृत्ति पर निर्वाह करते हैं, वे घर घर से एक रोटी या आधी रोटी माँगकर १०–२० घरो से लेकर पेट भरते हैं। क्षेत्रों मे जो मधुकरी दी जाती है उसमे एक या दो रोटी पर थोडा भात और दाल रखकर झोली मे डाल देते हैं। ऐसे ही २४ क्षेत्रों से मधुकरी लाकर साधु लोग काम चलाते हैं।

एक भक्त सेठ थे। उन्होंने सोचा आज मैं दिन भर मधुकरी देता रहूँगा और जो भी मधुकरी लेने आवेगा सभी के पैर छूऊँगा, "न जाने दत्तात्रेयजी किस वेष मे मधुकरी लेने आ जायँ।" इसलिये वहाँ स्वय मधुकरी बाँटने लगा और जो भी मधुकरी लेने आता सभी के पैर छूता। वहाँ मधुकरी का माहात्म्य है अत. साधु ही नहीं गृहस्थ भी मधुकरी लेने बहुत बडी सख्या मे आते हैं। वह

सेठ कोढी, रोगी, मगता, भिखारी, गृहस्थी जो भी माँगने आता सभी को मधुकरी देता और उसके पैर छूता जाता था। उसी भीड मे उनका रसौया भी मधुकरी माँगने आया। सेठ ने सोचा—"अरे, यह तो मेरा रसोया नोकर ही हे इसके क्या पैर छूऊँ।" यह सोचकर उसके पेर उन्होने नहीं छूए। रसौया मधुकरी लेकर चला गया।

पीछे उन्हे स्मरण आया—"अरे, रसौये को तो मैं बम्बई ही छोड आया था, वह यहाँ कहाँ से आ गया। हो न हो इसी रूप मे भगवान् दत्तात्रेय आये हो। वह जिधर वे गये थे उधर दोडा, किन्तु तब तक वे अन्तर्धान हो गये थे।

यह कथा मुझे गुजरात के सुप्रसिद्ध कथावाचक श्री डोंगरे जी ने सुनायी थी। इस कथा का सार इतना ही समझना चाहिये कि-

तुलसी जग मे आइकें मिलियों सबसे धाय।
ना जानें किहि वेष में नारायण मिल जाय॥

भोजन तो जिसके पेट हे, उसे ही चाहिये। कुछ लोग कहते हैं—हट्टा कट्टा भिखारियो को देने से क्या लाभ ? ऐसे तो सभी लोग माँगने लगेंगे। सब मगता बन जायेंगे, बेकारी बढेगी।

हमारा कहना है—"अरे, भाई ! आदमी तभी माँगता है, जब विवश हो जाता है, नहीं मगता बनकर अपमानित कौन होना चाहेगा। हाँ, कुछ लोगों का भीख माँगना व्यवसाय अवश्य हो जाता है, वे माँग-माँगकर बहुत-सा द्रव्य एकत्रित कर लेते हैं। अत. आप किसी को नकद द्रव्य भले ही मत दो। अन्न देने मे क्या हानि, उन्हें बिठाकर भोजन करा दो। कोई भी होगा, भोजन तो कहीं से करेगा ही। इसीलिये शास्त्रों मे अन्न दान की इतनी भारी प्रशसा है।

संसार में गौ दान, भूमिदान और कन्यादान ये महादान बताये गये हैं, इन दानो के दाता गृहीता दोनों ही पुण्य के भागी होते हैं, किन्तु इन सभी दानों से श्रेष्ठ है अन्न दान। अन्न दान से बढ़कर दान न है न हुआ और न होगा।

अन्नदानात् परं दानं न भूतं न भविष्यति।
पुण्यं यशस्यमायुष्यं बलपुष्टि विवर्द्धनम्॥

छप्पय

अन्न माँहिं ही प्रान अन्न में लोक सकल हैं।
अन्न बिना सब जीव छुधातैं दुखी विकल हैं॥
अन्न दान जे करें, दार सुत धन यश पावैं।
अन्न प्रेमतैं देहिं पुन्य लोकनि में जावैं॥
अन्न सिद्धिमय ब्रह्ममय, अन्न उपासन जे करत।
अन्न दान परभाव तैं, भवसागर सहजहिँ तरत॥

[४]

विद्यार्थी

विद्यानाम कुरूपरूपमधिकं प्रच्छन्नमन्तर्द्धनम् ।
विद्यासाधुजनप्रिया शुचिकरी विद्यागुरूणां गुरुः ॥
विद्याबन्धुजनार्त्तिनाशनकरी विद्या परं देवता ।
विद्याभोग्ययशः कुलोन्नतिकरी विद्याविहीनःपशु ॥*

(गरुड पु० ११० अ० ११४ श्लोक)

छप्पय

विद्या जापै होहि रूप ताही को मनहर।
विद्या जापै होहि वित्त ताही को सुखकर ॥
विद्यातैं ही भोग, कीर्ति, यश, धन सब आवैं।
विद्यावान कुलीन श्रेष्ठ उन्नत कहलावैं ॥
विद्याधन जिनि संग्रह्यो, तिनि यश गावैं रुद्र बसु।
विद्या तैं जे हीन ते, सींग पूँछ बिनु द्विपद पशु ॥

---

* विद्या कुरूप को भी अधिक रूपवान् करने वाली है, विद्या छिपा हुआ अन्तर्धन है। विद्या साधुजनो की प्रिया है, वह पवित्र करने वाली तथा गुरुओ को भी गुरु है। विद्या बन्धु बान्धवो के दुःखो को नाश करने वाली है, विद्या परम देवता है। विद्या भोग्य पदार्थ, यश तथा कुल की उन्नति करने वाली है, जो मनुष्य विद्या से विहीन है, वह पशु के सदृश है।

हमारे यहाँ सनातन वर्णाश्रम आर्य धर्म में जिसके द्वारा संसार सागर से मुक्त हो सकें उसका नाम विद्या है। विद्वान पुरुष ही यह जान सकता है, कि कौन-सा कार्य करना चाहिये कौन-सा कार्य नहीं करना चाहिये। कर्त्तव्याकर्तव्य के निर्णय के लिये शास्त्रीय ज्ञान परमावश्यक है। हमारे यहाँ अठारह विषयों के ग्रन्थों को शास्त्र की संज्ञा दी है। इसीलिये पुराणकारों ने स्थान-स्थान पर अष्टादशा विद्या का उल्लेख किया है। वे अठारह ये हैं। १-शिक्षा, २-कल्प, ३-व्याकरण, ४-निरुक्त ५-ज्योतिष, और ६-छन्द ये वेद के अंगभूत ६ शास्त्र, १-ऋग्वेद, २-यजुर्वेद, ३-सामवेद, और ४-अथर्व वेद ये चार वेद, १-आयुर्वेद, २-धनुर्व्वेद, ३-गान्धर्व वेद और ४-अर्थशास्त्र ये चार उपवेद तथा १-मीमांसा, २-न्याय, ३-धर्मशास्त्र, और ४-इतिहास पुराण ये सब मिलाकर १८ हुए। शेष सभी इन्हीं अठारहों के अन्तर्गत आ जाते हैं।*

पहिले जो इन अठारहों के ज्ञाता होते थे वे आचार्य या गुरु कहलाते थे। वे बड़े त्यागी, सदाचारी, सत्य परायण, कर्मकांडी तथा स्वधर्म निरत ब्राह्मण हुआ करते थे। उनकी धारणा शक्ति ऐसी अद्भुत होती थी, कि वे परम्परागत विद्या को श्रवण करते ही धारण कर लेते थे। यह धारणा शक्ति उनमें उनके अद्भुत त्याग, वैराग्य, सदाचार, स्वाध्याय तथा तप के प्रभाव से स्वतः ही

---

* अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्याय विस्तरः।
धर्मशास्त्र पुराण च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः।
अर्थ शास्त्र चतुर्थञ्च विद्या ह्यष्टादशैव ताः॥
(विष्णु पुराणे)

आ जाती थी। वे एकान्त अरण्य मे बास करते थे। वे शास्त्रों का अध्ययन निष्कामभाव से, अपना धर्म समझकर कर्तव्य बुद्धि से किया करते थे। वे अन्नजनित दोप से बचने की सदा चेष्टा करत थे। शिलोञ्छवृत्ति से, अयाचित्तवृत्ति से अथवा शिष्यो द्वारा लायी हुई भिक्षा से निर्वाह करत थे। वे इतने प्रज्ञावान् होते थे, कि उन्हे स्मरण रखने को, विषयो को लिखना नहीं पडता था, सब सुनकर ही धारण कर लेते थे, इसीलिये वेदो को श्रुति कहते हैं। वे वेद वेदांगो को परम्परा से सुनकर ही स्मरण कर लेते थे *ऐसे आचार्य प्रायः गृहस्थ होते थे। गृहस्थ हुए बिना पुत्र स्नेह का* अनुभव नहीं हो सकता। वे अपने पुत्रों के समान ही अपने शिष्यो को–परपुत्रो को–प्यार करते थे। वे किसी के अधीन नहीं होते थे, किसी के आर्थिक दबाव मे आकर कभी कोई अनुचित कार्य नहीं करते थे। मनुष्य जब निरन्तर अर्थ के विषय में दूसरो के आश्रित रहता है, तो उसे दाता की उचित अनुचित सभी बातो को मानना पडता है। स्वार्थ व्यक्ति को अन्धा बना देता है। आचार्यगण न तो किसी से याचना करते थे, और न किसी के आश्रय मे रहते थे, भगवान् के भरोसे पर रहकर पूरे कुल का भरण पोषण करते थे। ये आचार्य या गुरु तथा उनकी पत्नी गुरुआनी अपने पुत्रो मे तथा पढने आये दूसरे विद्यार्थियों मे अणुमात्र भी भेदभाव नहीं मानते थे। वे विद्यार्थी सद्गृहस्थ द्विजातियों के घरों में भिक्षा के लिये जाते थे। गृहस्थी भोजन बनाकर–बलिवैश्वदेव करके–विद्यार्थियो की प्रतीक्षा में बैठे रहत थे। मातायें बार बार द्वार पर आकर देखतीं आज अभी विद्यार्थी भिक्षा के लिये नही आये। तभी विद्यार्थी आकर कहते—'भवति भिक्षा देहि' माताओं का हृदय—उन भोले बच्चो को देखकर भर आता था, अपने बच्चो की याद आ जाती। हमारे बच्चे भी ऐसे

ही किसी के घर मे भिक्षा मॉगने को गये होंगे। वे भी किसी के द्वार पर झोली लिये खड़े होंगे। उन विद्यार्थी ब्रह्मचारियो की झोलियो मे भिक्षा देते समय मातायें अनुभव करतीं, मानों हम अपने ही बच्चो को भिक्षा दे रही हैं। समता का कितना ऊँचा आदर्श था, इस भिक्षा प्रणाली मे।

बहुत से ब्रह्मचारी भिक्षा लाने मे प्रमाद करते। भिक्षा न लाना यह है तो विद्यार्थी धर्म–छात्र सदाचार–के विरुद्ध। फिर भी गुरु तथा गुरुपत्नी उन्हे भिक्षा न लाने पर स्वयं बनाकर खिलाते। राम राज्याभिषेक के समय ऐसे ही छात्रों को उद्देश्य करके मॉ कौशल्या ने कहा था—"वे कठ शाखा वाले ब्रह्मचारी स्वादुभोजन तो चाहते हैं, किन्तु भिक्षा करने में आलस्य करते हैं, उन सबको विपुल मात्रा मे सुवर्ण मुद्रायें दे दो।"

इससे प्रतीत होता है, राजे-महाराजे, धनी-मानी सभी सद्-गृहस्थ ब्रह्मचारी विद्यार्थियों का तथा विद्यादान करने वाले आचार्यों का बहुत ध्यान रखते थे। स्थान-स्थान पर ऐसे बहुत से आश्रम तथा गुरुकुल होते थे। जिस आचार्य की जैसी सामर्थ्य होती थी, उतने ही ब्रह्मचारी वह रख लेता था। किसी-किसी आचार्य के यहॉ तो १०-१० सहस्र विद्या प्राप्त करने वाले छात्र तथा तपस्वी रहते थे। वे उन सबके भोजनादि का सब प्रबन्ध करते। जो १० सहस्र विद्यार्थी ब्रह्मचारी तथा तपस्वियों के भोजनादि का प्रबन्ध करे वही कुलपति कहलाता था। उस समय के कुलपतियों में वाल्मीकि, भरद्वाज, दुर्वासा, कण्व आदि अनेकों कुलपतियों का नाम इतिहास पुराणों में आता है। उन गुरुकुलों का जब वृत्तान्त पढ़ते हैं, तो हृदय मे एक प्रकार की हूक उठती है। अहा! कैसे वे स्वच्छन्द, स्वतन्त्र गुरुकुल आश्रम में रहे होंगे। बड़े-बड़े राजा राजपुत्र वहॉ हाथ जोड़े विनयावनत खड़े रहते थे। अग्नि

के सदृश जाज्वल्यमान तपःपूत महान् तेजस्वी कुलपति जब दर्शनार्थ खड़े हुए सहस्रों राजा, राजपुत्र, श्रेष्ठि तथा तपस्वियों के सम्मुख अग्निहोत्र करके निकलते होंगे तब सहस्रों श्रद्धाञ्जलियाँ उनके चरणारविन्दों में समर्पित होती होंगी।

वे आश्रम क्या होते होंगे, अरण्यों के छोटे मोटे राज्य ही होते थे। लाखों गौएँ जिनमें स्वच्छन्द घूम रही हैं, विपत्ति में फँसी राजमहिषियाँ, राज्य भ्रष्ट राजागण जहाँ आश्रय पाते थे। जिन भरत के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा उन दुष्यन्तात्मज महाराज भरत का लालन पालन कुलपति महर्षि कण्व के ही आश्रम में हुआ। भगवान रामचन्द्रजी के तनय लव-कुश का जन्म तथा उनका लालन पालन कुलपति महर्षि वाल्मीकि के ही आश्रम में हुआ। राज्य से निर्वासिता भगवती सीता को आश्रय देकर भगवान् वाल्मीकि ने कैसा साहस का कार्य किया।

उस समय के कुलपति, राजाओं तक को तुच्छ समझते थे और राजाओं को नतमस्तक होकर उनकी समस्त आज्ञाओं का पालन करना पड़ता था। कोशल देश एक महान राज्य था। उसके राजा ध्रुवसन्धि की दो रानियाँ थीं। बड़ी रानी मनोरमा के पुत्र का नाम सुदर्शन और छोटी रानी लीलावती के पुत्र का नाम शत्रुजित् था। राजा ध्रुवसन्धि अकाल में ही काल कवलित हुए। दोनों राजकुमारों के नाना अपने अपने दौहित्र को राजगद्दी पर बिठाना चाहते थे।। शृङ्गवेरपुर के दस्यु निषादराज उन्हें लूटने आ पहुँचे। दोनों राजाओं में घोर युद्ध हुआ। शत्रुजित् के नाना युधाजित् का पलड़ा भारी पड़ गया। बड़ी रानी मनोरमा के पिता सुदर्शन के नाना युधाजित् युद्ध में मारे गये। तब महारानी मनोरमा अपने अनाथ पुत्र को चुपके से लेकर महामन्त्री विदल्ल के साथ एक रथ पर चढ़कर चोरी से भाग निकलीं। क्योंकि

युधाजित् अपने दौहित्र शत्रुजित् के राज्य को निष्कंटक बनाने के लिये सुदर्शन की हत्या करने वाला था। दूसरे राज्य तो युधाजित् के भय से मनोरमा को शरण दे नहीं सकते थे। वह अपने पुत्र को लेकर मन्त्री सहित कुलपति भगवान् भरद्वाज की शरण में में आयी। विपत्तियों पर विपत्तियाँ उस रानी पर आ रहीं थीं। पति मर गया, पिता रण में मारा गया, राज्य पाट छिन गया, शत्रु उसके पुत्र को भी मार डालना चाहते थे, किसी प्रकार रथ पर चढ़कर पुत्र को लेकर चोरी छिपे भगकर गंगातट पर आई तो, वहाँ के निषाद दस्युओं ने उनका सर्वस्व छीन लिया रथ भी छीन लिया। किसी प्रकार गंगापार करके वह चित्रकूट के समीप स्थित कुलपति भगवान् भरद्वाज के आश्रम पर आई। ऋषि ने उसे आश्रय दिया, उसको निर्भय किया। जब युधाजित् ने यह यह समाचार सुना कि मनोरमा अपने पुत्र को लेकर भरद्वाज जी के आश्रम में ठहरी है, तो वह सेना लेकर आश्रम में आ धमका और कुलपति से कहा—"मुनिवर! देखिये, आप राजाओं के बीच में न पड़े। ऋषियों को राजनीति से दूर ही रहना चाहिये। मैं मनोरमा तथा सुदर्शन को छोड़ नहीं सकता। आप प्रसन्नता से इन्हें अपने आश्रम से न निकालेंगे तो मैं इन्हें बलपूर्वक ले जाऊँगा।"

राजा के ऐसे गर्व पूर्ण वचन सुनकर कुलपति हँस पड़े। और बोले—"राजन्! ऐसा ही साहस पूर्वकाल में राजा विश्वामित्र ने वसिष्ठ जी की गौ ले जाने को किया था। यह कथा तो तुम्हें स्मरण ही होगी। तुममें यदि शक्ति हो, साहस हो तो वह भी कर के देख लो।"

कुलपति का ऐसा निर्भीक उत्तर सुनकर राजा भयभीत हो गया। उसने अपने वृद्ध मन्त्री से सम्मति की। मन्त्री ने कहा—

"महाराज ! बर्र के छत्ते में हाथ मत डालो। इन महर्षियों से पार पाना अत्यन्त कठिन है। आप अपना भला चाहते हो, तो चुप चाप लौट चलिये।" यह सुनकर राजा रक्त का घूँट पीकर अपना-सा मुँह लेकर जैसे आया था वैसे ही चुपचाप लौट गया। महर्षि ने माता पुत्र तथा मन्त्री को आश्रय दिया और अन्त में देवी जी की कृपा से उसे राजा भी बना दिया। ऐसी होती थी, उन दिनों के कुलपतियों की सामर्थ्य बड़े-बड़े राजे-महाराजे उनकी कृपा के लिये लालायित रहते थे।

क्रूर काल की विडम्बना के कारण ये गुरुकुल नष्ट होने लगे। उनका स्थान 'टोल' पाठशाला तथा विद्यालयों ने ले लिया। धर्मात्मा पुरुष वेतनिक पंडित रख देते थे विद्यालय खोल देते थे, उनमें वेतनिक उपाध्यायगण वेदवेदाङ्ग पढ़ाते थे, विद्यार्थी लोग उनमें पढ़ते भिक्षा वृत्ति से अपना निर्वाह करते थे। कालान्तर में लोग भिक्षा देने में भी संकोच करने लगे, विद्यार्थियों को अन्न का कष्ट होने लगा, तो धर्मात्मा धनी मानी पुरुषों ने अन्नक्षेत्र खोल दिये। अन्नक्षेत्रों में भोजन कर आओ, विद्यालयों में पढ़ आओ। इस प्रकार पुराने अवेतनिक त्यागी विरागी निरपेक्ष आचार्यों का भी अभाव हो गया और भिक्षा वृत्ति भी बन्द हो गयी। बहुत से विद्यार्थियों ने १२, २४, ३६ अथवा ४८ वर्षों तक के लिये गुरुकुलों में जाना बन्द कर दिया। वे घर घर ही रहते, विद्यालयों में या टोलों में जाकर पढ़ आते, जो धनी मानी समर्थ होते वे अपने बच्चों को पढ़ाने को वैतनिक अध्यापक भी रख लेते। पहिले वेतन लेकर पढ़ाना महान पाप माना जाता था, किन्तु राजा द्रुपद के अपमान से अभिभूत हुए महर्षि द्रोणाचार्य ने यह प्रथा चला दी। राजाओं के घर पर वैतनिक रूप में पढ़ाने वाले उपाध्याय सर्वप्रथम द्रोणाचार्य ही हुए। फिर तो ...

वह चाहे अन्न वस्त्र, वाहन गौ, किसी भी रूप में क्यों न लिया जाय–लेने की प्रथा ही चल गयी। फिर भी उपाध्यायों को कुलीन वेदज्ञ ब्राह्मण बहुत सम्मान की दृष्टि से नहीं देखते थे। पाठक तथा उपाध्यायों को वे वैदिक ब्राह्मण समाज में विशेष आदर नहीं देते थे किन्तु करें क्या विद्या का तो प्रचार करना ही है। निस्वार्थ आचार्य कोई निर्माण तो किये ही नहीं जा सकते थे। वेदवेदाङ्गों का पढ़ना द्विजातियों के लिये परमावश्यक था, अतः अरण्यों में नहीं ग्रामों तथा नगरों में पाठक उपाध्यायों वाले सहस्रों लक्षों टोल खुल गये। राज्यों की सहायता से विश्वविद्यालय बन गये। जिनमें सहस्रों विद्यार्थियों के रहने, भोजन, वस्त्र, चिकित्सा का प्रबन्ध था। बौद्ध राजाओं ने इन विश्वविद्यालयों पर अरबों, ग्वरबों का द्रव्य व्यय किया। नालन्दा राजगृह के बौद्ध कालीन ऐसे ही विश्वविद्यालय थे। जिनमें चीन, जापानादि के देशी विदेशी लाखों छात्र शिक्षा पाते थे।

बौद्धों के पश्चात् यवनों का इस देश पर आधिपत्य हुआ। उन्होंने यावना भाषा का यावनी संस्कृति का इस देश में प्रचार-प्रसार करना चाहा। क्योंकि राज्यसत्ता उनके अधीन थी, संस्कृति का विशेष सम्बन्ध भाषा से ही है। तब तक यहाँ के ब्राह्मण राजाओं की नौकरी करना पाप समझते थे, उसे "श्ववृत्तिर्नीच सेवनम्" कहकर हेयदृष्टि से देखते थे। अतः यावनी भाषा वा यवनी संस्कृति का वर्णाश्रम धार्मियों में विशेष प्रचार-प्रसार न हो सका। हाँ जिस जाति के लोग राजाश्रय में रहकर राज काज करते थे। राज्यभृत्यता जिनकी परम्परागत वृत्ति थी, वेसे कायस्थ तथा अन्य संकर वर्णी लोगों ने–तथा कुछ अर्थ लोलुप-संसारी सुखेच्छु ब्राह्मणों ने भी यावनी भाषा अपना ली। वे यावनी भाषा के विद्वान होने पर राज्य के बड़े-बड़े प्रतिष्ठित पदों पर पदासीन होने

लगे। फिर भी संस्कृत विद्यालयों या टोलों का न महत्त्व ही कम हुआ और न उनकी संख्या ही कम हुई। अपितु उनकी संख्या में वृद्धि ही हुई। बहुत से यवन शासक भी संस्कृत के बड़े-बड़े भारी धुरंधर विद्वान हो गये हैं। उस समय काशी, कांची, कन्नौज, कश्मीर तथा नदिया ये सुप्रसिद्ध विद्यापीठ थे।

पूर्व में नदिया, पश्चिम में कान्यकुब्ज, उत्तर में कश्मीर, दक्षिण में कांची और सबके मध्य में सर्वश्रेष्ठ काशी ये विद्या के प्रधान क्षेत्र थे। कोई कवि काव्य लिखता तो उसे इन पाँचों पीठों के पंडितों से मान्यता प्राप्त करानी पड़ती थी। बिना इनकी मान्यता प्राप्त ग्रन्थों की कोई भी प्रतिलिपि नहीं करता था। उन दिनों आज की भाँति मुद्रणालय तो थे नहीं। सभी लोग सम्मानित ग्रन्थो की प्रतिलिपियाँ करके ही उनसे निर्वाह करते थे। मुसलमानी शासन काल तक यह क्रम अनवरत रूप से चलता रहा। हाँ, राजकाजी पुरुष तो फारसी आदि यावनी भाषाओं को अवश्य पढ़ते थे, शेष सर्वसाधारण जनता इनसे अनभिज्ञ ही बनी रही। अँगरेजो के आने के पूर्व तक अकेले बंग देश मे ऐसी ९ लाख पाठशालायें थीं।

अँगरेजो के शासन आने पर यह प्रश्न हुआ कि शिक्षा का माध्यम क्या रखा जाय। सबकी सम्मति यही थी, कि सदा से जो संस्कृत माध्यम चला आ रहा है, वही शिक्षा का माध्यम रखा जाय। किन्तु लोगो ने कहा—"संस्कृत दुरूह भाषा है, हिन्दी को राज्य भाषा बनाया जाय।" जब अँगरेजों की राजधानी कलकत्ता थी, इस्टइंडिया कम्पनी का राज्य था, तब कुछ दिन हिन्दी ही इस देश की राजभाषा मानी गयी। जो भी आंगल देश से यहाँ अधिकारी आते थे, उनके लिये हिन्दी का ज्ञान अनिवार्य था।

भारतीय सेवा आयोग (इन्डियन सिविल सर्विस) का जो भी सदस्य यहा मद्रास, कलकत्ता, बबई किसी भी बन्दरगाह पर उतरता, वह लोगो से हिन्दी मे ही बात करता। विदेशो मे ऐसी मान्यता था, कि समूचे भारत की एक मात्र भाषा हिन्दी है। उनकी यह धारणा निराधार भी नहीं थी। इस देश के सन्तो ने बहुत पहिले ही सस्कृत के स्थान पर हिन्दी को ही सम्पर्क भाषा के माध्यम से राष्ट्र भाषा मान रखा था। उस समय हिन्दी, बगला, मराठी, पजाबी, पहाडी नपाली इनमे कोई भी अतर नहीं था। व्रजभाषा को पूरे देश ने कविता की भाषा और सब मिली-जुली को भाषा बाता मान रखा था। गद्य मे बहुत ही कम-नहीं के बराबर-ग्र थ लिखे जाते। सस्कृत या व्रज भाषा मे सभी ग्र थ पद्य में ही लिखने की प्रथा था।

अग्र ेजो को राज्य विस्तार के साथ ईसाइयत का भी प्रचार करना था। किन्तु वे मुसलमानो का भॉति बलपूर्वक धर्मान्तरित करने के पक्ष मे नहीं थे। वे मीठा विष देकर मारना चाहते थे। वे देख चुके थे, सहस्रो वर्षों से बलपूर्वक-नाना अन्याय, अत्याचार पापाचार, लूट पाट और बलात्कार करने पर भी मुसलमान पूरे देश को मुसलमान नहीं बना सके। अतः वे चाहते थे भारतवर्ष की शिक्षा प्रणाली को बदल दिया जाय। सस्कृत से जब तक देश वासियों का लगाव रहेगा, तब तक वे भारतीय धर्म सस्कृति से चिपके ही रहेगे। तब तक इगलैड आदि पश्चिमीय देशों मे वर्तमान समय की पाश्चात्य ईसाई सस्कृति प्रधान विश्व विद्यालयी इंगलिश पद्धति वाली शिक्षा प्रणाली का वहाँ के विद्यालयो मे प्रचार हो चुका था। वह प्रणाली शुद्ध पाश्चात्य ढग की धर्म हीन भारतीय परम्परा के विरुद्ध थी। एक लार्ड मेकाले नामक अँगरेज ने उसे ही भारत मे प्रचारित करने का आग्रह किया। उसका

कहना था इस शिक्षा से हिन्दू छात्र तत्काल ईसाई तो न बन जायेंगे, किन्तु वे हिन्दु भी नहीं रह जायेंगे। धर्म संस्कृति हीन नाम मात्र के हिन्दु संस्कार मे पाश्चात्य ढँग के ईसाई हो जायेंगे। उसका सपना सत्य हुआ। हमारे देश की इस शिक्षा प्रणाली ने हमारी परम्परागत संस्कृति का सत्यानाश कर दिया, हममें से धार्मिक आस्था हटा दी। हम अपने धर्म को, अपने पूर्वजों को, अपनी संस्कृति को हेय समझने लगे। इस शिक्षा प्रणाली ने हमारी संस्कृति की नींव ही हिला दी, जिसे दस्युधर्मी आततायी, यवन नाना अत्याचार करके भी हिला नहीं सके थे।

शिक्षा का माध्यम अँगरेजी निश्चित हो जाने पर सभी विषयों को अँगरेजी मे पढ़ाये जाने का आग्रह होने पर यहाँ के विश्व-विद्यालयों, महाविद्यालयों तथा विद्यालयों और आरम्भिक विद्यालयों मे अँगरेजी शिक्षा आरंभ हुई। कहने के लिये संस्कृत को अरबी, फारसी की भाँति एक सामान्य विषय रखा गया। आरम्भ मे छटी श्रेणी तक की आरम्भिक शिक्षा मातृ भाषा मे दी जाती थी, फिर माध्यमिक परीक्षा देने के अनन्तर दो वर्ष की विशेष कक्षायें रखीं जाती थीं, उनमे अँगरेजी सिखाकर छात्रों को आठवीं श्रेणी मे सम्मिलित किया जाता था, फिर स्नातक तथा स्नातकोत्तर कक्षा तक की समस्त शिक्षा अँगरेजी ही में दी जाती थी। और देश के स्वतंत्र हो जाने पर भी यह क्रम प्रायः अभी तक चालू है। यही नहीं अब स्वतन्त्र हो जाने पर चतुर्थ कक्षा से ही अँगरेजी सिखायी जाने लगी है।

हमारे बाल्यकाल मे अँगरेजी को बड़े घरों के-सम्पन्न परिवार के ही-लोग पढ़ते थे। अँगरेजी सरकार का निश्चय था, राज्यकाज अँगरेजी में ही हुआ करे। जितने भी राज्य के बड़े सम्मानित पद थे, उन सब पर अँगरेज ही आसीन थे।

हमारे ममय में भारतियों के लिये उप संग्रहीता (डिप्टी फलेक्टर) ही सबसे बड़ा पद माना जाता था। पुलिस में भारतियों के लिये उप निरीक्षक (थानेदार) सबसे बड़ा पद था। उस समय जो माध्यमिक कक्षा (मिडिल) उत्तीर्ण कर लेता उसे अधिवक्ता (वकील) का प्रमाण पत्र मिल जाता। जिसने बी० ए० कर लिया, वह बहुत भारी आदमी माना जाता था। हमारे बाल्यकाल में मथुरा में किसी ने बी० ए० कर लिया। उनका नाम ही बी० ए० बाबू पड़ गया। उस समय शिक्षालयों के कुलपति, उप कुलपति, प्रधानाचार्य, प्रधानाध्यापक सभी अँगरेज ही होते थे। विश्व-विद्यालयों और महाविद्यालयों के विविध विषयों के प्राध्यापक भी अँगरेज ही होते थे। उन्हें राज्यकाज के लिये अँगरेजों को अँगरेजी जानकार लिपिकों (क्लर्कों) की आवश्यकता होती थी, अतः आठवीं दशवीं कक्षा उत्तीर्ण पुरुषों को तुरन्त सरकारी नौकरी मिल जाती थी। बी० ए० पास को तो उप संग्रहीता (डिप्टी कलेक्टरी) निश्चित ही मिल जाती। कुछ एम० ए० उत्तीर्ण हमारे काल में न्यायाधीश-न्यायमूर्ति (जज) भी हुए। उनका पूरे देश में बड़ा नाम हुआ।

राजा जिस भाषा को प्रश्रय देता है, वह राज्याश्रित भाषा सम्मानित मानी जाती है, जनता की दृष्टि में उसका बड़ा आदर होता है। यवन शासन काल में फारसी का बड़ा सम्मान था। फारसी के विद्वान् ही राज्य के ऊँचे पदों पर प्रतिष्ठित होते थे। जब फारसी जानने वाले अत्यधिक हो गये, और सबको सरकारी नौकरी मिलना असम्भव हो गया, तब फारसी पढ़े लिखे अन्य व्यवसायादि करने लगे। किसी फारसी पढ़े को तेल बेचते देख कर यह लोकोक्ति ही बन गयीं, "पढ़े फारसी बेचें तेल, यह देखो विधिना को खेल" इसी प्रकार जब अँगरेजी का अधिक प्रचार हो

गया तो बहुत से अँगरेजी-स्नातकों को भी नौकरी मिलना कठिन हो गया। फिर भी अँगरेजी शिक्षित सम्माननीय ही माना जाता था।

अँगरेजी राज्य भाषा होने पर सम्मानित समर्थ लोग अपने बच्चों को अँगरेजी की ही शिक्षा दिलाने लगे। जो आदर वर्णाश्रमी सनातन आर्य धर्मावलम्बी शासकों के काल में संस्कृत भाषा को था, वही आदर अब अँगरेजी का होने लगा। संस्कृत अब केवल धर्म भाषा रह गयी। जिन ब्राह्मणों की आजीविका ही पंडिताई, पुरोहिती से चलती थी, अब वे ही विवाह कराने कथा बाँचने को संस्कृत पढ़ते थे। ब्राह्मणों के अतिरिक्त सभी लोग राज्य भाषा में ही शिक्षा पाने लगे। ब्राह्मणों में भी जो समर्थ थे, वे भी अपने बच्चों को अँगरेजी ही पढ़ाने लगे। जिस ब्राह्मण के ६ बच्चे है। वह देखता है, उसके भाई के लड़के अधिवक्ता (वकील) न्यायाधीश (जज) प्राध्यापक (प्रोफेसर) अभियंता अधिशायी (इंजिनियर) आदि बनकर बड़े-बड़े वेतनों वाले अधिकारी बन गये हैं। वे एक-एक दिन में १०-१०, २०-२०, ५०-५० रुपये नित्य पाने लगे हैं। और हमारे संस्कृत पढ़े बच्चे दिन भर पाठ-पूजा, कथा कहकर भी एक सीधा, पाँच आने पैसे ही प्राप्त करते हैं। सो भी दिन भर यजमान के पीछे फिरना पड़ता है, उसकी हाँ में हाँ मिलाना पड़ता है, तो असमर्थ होने पर भी–कहीं से ऋण लाकर–घर-द्वार भूमि बेचकर अपने लड़कों को अँगरेजी पढ़ाने लगे। अपने लड़कों में जो रूपवान्, प्रज्ञावान्, चतुर, बुद्धिमान होते उन्हें जैसे भी होता वैसे अँगरेजी पढ़ाते। जो देखने में भी कुरूप, मंदबुद्धि सबसे गया बीता होता, उसे संस्कृत पाठशालाओं में पटक आते। क्षेत्रों में माँगो, खाओ और जैसे चाहो तैसे संस्कृत पढ़ो। घर से इन्हें प्रायः सहायता नहीं मिलती थी।

हमारे बाल्यकाल में पाठशालायें चार प्रकार की होती थीं।
(१) एक तो जो धर्मात्मा परोपकार बुद्धि वाले आचार्य होते, वे अपने घर पढने जो भी ब्राह्मण बालक आता उसे निःशुल्क पढा देते। वे किसी के नौकर नहीं होते थे। असमर्थ विद्यार्थियों का किसी सेठ से-सद्गृहस्थ से सीधा बँधवा देते। बहुत से विद्यार्थी घर-घर से भिक्षा माँग लाते। इस प्रकार वे धर्मात्मा अध्यापक विद्यादान करते, विद्यार्थियों की भिक्षा का कहीं से प्रबन्ध करा देते, किन्तु उनकी भिक्षा में से स्वयं कुछ नहीं लेते थे।

दूसरा श्रेणी की ऐसी पाठशालायें होती थीं, कि कोई सेठ साहूकार-धनी मानी व्यक्ति धार्मिक भाव से किसी पंडित को वेतनिक अध्यापक रख देते। अध्यापक को नियमित वेतन देते। विद्यार्थी उनसे पढते। अन्न क्षेत्रों में जाकर जहाँ बनी बनायी रसोई मिलती, वहाँ जाकर खा आते। जिन क्षेत्रों में सूखा सीधा मिलता वहाँ से नित्य सीधा लाकर सब अपनी-अपनी अलग अलग रसोई बनाते। एक एक पाठशाला में ३०-३०, ४०-४०, चूल्हे चढते। क्षेत्रों में एक बार ही भोजन मिलता था, बनाने वाले भी सब एक ही बार बनाते थे। कोई भाग्यशाली विद्यार्थी ही दोनों बार भोजन पाता। नहीं तो संस्कृत के विद्यार्थी को एक ही बार भोजन मिल जाय, तो बडे भाग्य की बात है। "एकाहारी सदा सुखी।"

तीसरी श्रेणी की वे पाठशालायें होती थी, जिन में ४० ५० नियत विद्यार्थियों को एक बार बना हुआ या सूखा अन्न मिलता। रहने को स्थान, पढने को तेल मिलता, किन्तु अध्यापक नहीं। यहाँ रहो, खाओ और जहाँ इच्छा हो, जिस पंडित से भी चाहो पढ आओ। कोई उनसे पूछता नहीं था, कहाँ पढते हो, क्या पढते हो। इन्हें पाठशाला न कहकर निःशुल्क छात्रावास ही कहना चाहिये। कुछ क्षेत्र सायंकालीन भी होते थे। जैसे भगवान्

का मंदिर है, उसमे सायकाल को ५ सेर की पूडी भगवान् को भोग लगीं। तो वे सब पूडियॉ--चार चार पूडियॉ साग के सहित--विद्यार्थियो को बॉट दी जातीं। उनसे सायकालीन व्यालू हो जाती। कुछ धर्मात्मा लोग चने भिगोकर उन्हे छौककर विद्यार्थियो म सायकाल को बॅटवाते, कुछ भुने हुए सूखे ही चने बॅटवाते। उन्हे लाकर विद्यार्थी खाकर पानी पीकर सो जाते।

चौथी श्रेणी की वे पाठशाला हैं, जिनम पढाई, भोजन, पुस्तक, तेल आदि सभी प्रकार की व्यवस्था होता थी। अच्छे अच्छे वेतनिक अध्यापक रखे जाते, उनके भोजनो की कहीं एक बार की कहीं दो बार की व्यवस्था की जाती, ऊपर से विद्यार्थियों को कुछ आवश्यक कार्यो को नियमित द्रव्य भी दिया जाता। ये चारो प्रकार का पाठशालाये धनी मानी धर्म प्रधान सेठ साहूकारो, राजा महाराजाओं तथा समर्थ व्यक्तियों द्वारा धार्मिक भावना से की जाती। सरकार का इनमे तनिक भी हाथ नहीं होता था। उस समय तक आज की भॉति धार्मिक भावना सर्वथा लुप्त नहीं हुई थी। लोगो के हृदयो में धर्म की भावना वनी हुई थी। सस्कृत पढने वाले विद्यार्थी प्राय· निर्धन ब्राह्मण बालक ही होते थे। उनकी सहायता करने मे पुण्य होता है, इसी भावना से ये पाठ शालायें अन्न क्षेत्र तथा अन्य क्षेत्र चलते थे। मैंने इन चारो प्रकार का पाठशाला म रहकर अपना विद्यार्थी जीवन बिताया है। लगभग विभिन्न प्रकार की ६-७ पाठशालाओ का मुझे अनुभव है।

सस्कृत पढने सस्कृत पाठशालाओं म प्राय ऐसे ही निर्धन छात्र जाते हैं जो राजकीय विद्यालयो म अर्थिक अभाव के कारण प्रविष्ट नहीं हो सकते। सस्कृत पढना हमारा धर्म है--कष्ट सह कर--तपस्या करके नि स्वार्थ भाव से वेद वेदाङ्गो का अध्ययन करना ब्राह्मण का कर्तव्य है, इस दृष्टि से सस्कृत पढने वाले तो

विरले ही कोई होते होंगे। परलोक में पुण्य लोकों की प्राप्ति होगी, इससे भूखे रहकर तपस्या करके ब्राह्मण को कष्ट सहना चाहिये।* यह भावना प्रायः समाप्त हो गयी है।

अब तो प्रायः असमर्थता के कारण संस्कृत का विद्यार्थी बना जाता है। घर वाले जिसे किसी काम का नहीं समझते, अथवा किसी भी प्रकार राजकीय विद्यालयों में उच्च शिक्षा नहीं दिला सकते। उन्हें संस्कृत पाठशालाओं के लिये छोड़ देते हैं। उनमें भी कोई कोई भाग्यशाली प्रज्ञावान् निकल जाते हैं। नहीं तो बहुत से पढ़कर पंडिताई करने लगते हैं, बहुत से कहीं अध्यापक हो जाते हैं, कुछ प्रज्ञावान् संस्कृत पढ़कर किसी की सहायता से या अपने पुरुषार्थ से आधुनिक उच्च शिक्षा प्राप्त करके किसी उच्च पद पर भी प्रतिष्ठित हो जाते हैं। ऐसे इने गिने ही रहते हैं।

एक तो ये जन्मजात निर्धन होते हैं, दूसरे ये क्षेत्रों का कुधान्य खाते हैं, तीसरे उन्हें सदा सहायता के लिये दूसरों का मुख ताकना पड़ता है। चौथे ये सदा दान के द्रव्य के लिये, निमन्त्रण के लिये उत्सुक रहते हैं। इससे उनकी आत्म सम्मान की भावना लुप्त प्रायः हो जाती है। वे बड़े लोगों के सम्मुख छाती तानकर खड़े नहीं हो सकते। उनमें स्वयं ही अपने आप में हीन भावना होती है।

जिन दिनों हम खुर्जा (जि० बुलन्दशहर) की पाठशाला में पढ़ते थे, तभी किसी संस्कृत विद्यार्थी को पागल कुत्ते ने काट खाया था। इस पर एक मारवाड़ी सेठ की सेठानी कह रही थी— "पागल कुत्ते को जैसे हो तैसे पकड़वाना चाहिये। आज तो

---

* ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च॥

विद्यार्थी को ही काटा है, कल किसी आदमी को काट लेगा।" इसका भाव यही हुआ कि विद्यार्थी की तो कोई बात नहीं। वह तो सर्वसाधारण लोगो से पृथक है समाज के किसी आदमी को न काटे।

ब्राह्मण सदा से ही कष्ट सहकर निर्धन बनकर–तप करके–धर्म का प्रचार प्रसार करता आया है। ब्राह्मणो ने कभी धन का लोभ नहीं किया। ब्राह्मणो मे जो जितना ही असग्रही, त्यागी, अपरिग्रही होगा वह उतना ही श्रेष्ठ समझा जायगा। सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण तो वही है जो पक्षियों की भॉति कण-कण बीनकर उदर पूर्ति करें। दूसरे समय को या दूसरे दिन को कुछ भी सग्रह करके न रखे। यही कारण है कि आज ऐसे गये बीते समय मे भी चाहे असमर्थता के ही कारण सही–निर्धन होने पर भी–ब्राह्मण बालक वेद वेदाङ्ग पढते है और धर्म के नाम को किसी न किसी रूप मे बचाये हुये हैं।

अब तो नित्य ही राजकीय अध्यापको की वेतन के निमित्त की हुई हडतालो, धरनो, अनशनो और घिरावो के कारण सस्कृत के अध्यापक भी इससे अभिभूत हुए हैं और वे भी वेतन के लिये भॉति भॉति से विरोध करने लगे है, नहीं तो मेरे [illegible] सस्कृत के अध्यापक वडे ही सतोषी, सीधे सादे [illegible] [illegible]नुरागी तथा छात्रवत्सल होते थे। वे यथालाभ [illegible] भाग्यवश जो भी थोडा बहुत मिल जाता था. [illegible] निर्वाह करते थे, विद्यार्थियो की उन्हें चिन्ता [illegible] लिये वे कुछ न कुछ करते-कराते रहते [illegible] अध्यापको का कृपा प्रसाद प्राप्त किया है। [illegible] शिष्यवत्सल होते थे, उन बातो को [illegible] भी हृदय भर आता है। उन दिनों [illegible]

भावों मे आकाश पाताल का अनन्तर हो गया है। पहिले पाठ-शालाओं को या तो त्यागी विरागी तपस्वी संत महात्मा चलाते थे। या धनीमानी धर्मात्मा लोग चलाते थे। मैंने अनेको ऐसे तपस्वियों के दर्शन किये हैं उनके संसर्ग में रहा हूँ, जो अयाचित वृत्ति से-भगवान् के भरोसे पर-अथवा भिक्षा माँग-माँगकर बड़ी-बड़ी पाठशालाओ को चलाते थे और सैकड़ों विद्यार्थियों का निर्वाह करते थे। कालक्रम से अब शनैः-शनैः ऐसे लोगो का ह्रास हो रहा है।

पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली का जब प्रचार होने लगा और पाश्चात्य शिक्षा दीक्षा में पले लोग भारतीयता से दूर होने लगे तो हमारे देश के नेताओं ने अनुभव किया कि यह शिक्षा हमारी संस्कृति के अनुरूप नहीं है तो उन्होंने इसका विरोध करना आरभ किया। इनमें राजा राममोहन राय, श्री केशवचन्द्र सेन देवर्षि अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर, लोकमान्य तिलक, महात्मा गान्धी, महामनामालवीय आदि-आदि मनस्वियों ने इस प्रणाली का विरोध किया, किन्तु इन लोगों की शिक्षा दीक्षा भी पाश्चात्य प्रणाली से हुई थी, अतः इनका विरोध कोई विशेष प्रभावशाली नहीं रहा। हाँ स्वामी दयानंद सरस्वती इस पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली से सर्वथा रहित थे, वे प्राचीन पाठशाला प्रणाली से पढ़े थे। निर्भीक थे, प्रभावशाली तथा नेतृत्वगुण से सम्पन्न थे, उन्होंने इस पाश्च्य प्रणाली का डटकर विरोध किया और प्राचीन पद्धति की गुरुकुल प्रणाली का समर्थन किया। उनके जीवन काल मे तो गुरुकुल प्रणाली का उतना प्रचार प्रसार नहीं हुआ किन्तु उनके परलोक पधारने के पश्चात् महात्मा मुंशीराम (पीछे स्वामी श्रद्धानन्द) स्वामी दर्शनानंद आदि महानुभावों ने गुरुकुल प्रणाली के प्रचार में सराहनीय प्रयत्न किये। महात्मा

मुशीलाल जी अपनी वकालत छोडकर अपने दोनों पुत्रों को लेकर हरिद्वार उस पार गगा तट पर—कागड़ी नाम के छोटे से गॉव मे जा बैठे। वहाँ उन्होंने फूस की झोपडियाँ बनाकर उसी गॉव के नाम से कागडा गुरुकुल की स्थापना की। सन् १९२१ मे मैं उसे देखने गया था। उस समय गुरुकुल ऋषि आश्रम सा प्रतीत होता था। महात्मा मुशीलाल जी के दर्शन मैंने एक फूस की कुटिया मे किये थे। वे उसी म रहते थे। उनके तेजस्वी मुख मडल, वैदिक धर्म के प्रचार की सच्ची लगन और अनुपम त्याग वृत्ति को देखकर मैं प्रभावित हुआ। उस समय तक गुरुकुल की शिक्षा दीक्षा प्राचीन ढॅग से सस्कृत के माध्यम से ही जाती थी। अच्छे अच्छे सस्कृत के पडित अच्छे वेतन पर पढाने को रखे जाते थे, उन दिनों गुरुकुलों की धूम मच गयी थी। फर्रुखाबाद मे एक गुरुकुल की स्थापना हुई, पीछे वह वृन्दावन मे उठकर चला आया, जो अभी तक वृन्दावन मे स्थित है। बुलदशहर के सिकदराबाद म, पजाब तथा हरियाणा के कई नगरों में अनेक गुरुकुल आर्य समाजी बन्धुओ द्वारा स्थापित हुए उनके प्रत्युत्तर म सनातन धर्मियों ने ऋषिकुलों की स्थापना की। जहाँ जहा गुरुकुल बने वहाँ वहाँ ऋषिकुल भी खोले गये। वृन्दावन मे भी रगजी के बगाचे में एक ऋषिकुल खुला। हरिद्वार में भी महामना मालवीय, प० दुर्गादत्तजी पन्त आदि सनातनी नेताओ के प्रयत्न से ऋषिकुल की स्थापना हुई नगर नगर तथा ग्रामा तक मे भी ऋषिकुल गुरुकुल बन गये। किन्तु सनातन धर्मियों की अकर्मण्यता के कारण ऋषिकुल तो प्राय सब एक-एक करके समाप्त ही हो गये। गुरुकुलो की भी प्राचीन प्रणाली न चल सकी। जो गुरुकुल आर्थिक सकट में थे वे या तो समाप्त हो गये। या सस्कृत पाठशालाओं के ढाचे में परिणित हो गये।

भावों में आकाश पाताल का अनन्तर हो गया है। पहिले पाठशालाओं को या तो त्यागी विरागी तपस्वी संत महात्मा चलाते थे। या धनीमानी धर्मात्मा लोग चलाते थे। मैंने अनेकों ऐसे तपस्वियों के दर्शन किये हैं उनके संसर्ग में रहा हूँ, जो अयाचित वृत्ति से-भगवान् के भरोसे पर-अथवा भिक्षा माँग-माँगकर बड़ी-बड़ी पाठशालाओं को चलाते थे और सैकड़ों विद्यार्थियों का निर्वाह करते थे। कालक्रम से अब शनैः-शनैः ऐसे लोगों का ह्रास हो रहा है।

पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली का जब प्रचार होने लगा और पाश्चात्य शिक्षा दीक्षा में पले लोग भारतीयता से दूर होने लगे तो हमारे देश के नेताओं ने अनुभव किया कि यह शिक्षा हमारी संस्कृति के अनुरूप नहीं है तो उन्होंने इसका विरोध करना आरंभ किया। इनमें राजा राममोहन राय, श्री केशवचन्द्र सेन देवर्षि अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर, लोकमान्य तिलक, महात्मा गान्धी, महामनामालवीय आदि-आदि मनस्वियों ने इस प्रणाली का विरोध किया, किन्तु इन लोगों की शिक्षा दीक्षा भी पाश्चात्य प्रणाली से हुई थी, अतः इनका विरोध कोई विशेष प्रभावशाली नहीं रहा। हाँ स्वामी दयानंद सरस्वती इस पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली से सर्वथा रहित थे, वे प्राचीन पाठशाला प्रणाली से पढ़े थे। निर्भीक थे, प्रभावशाली तथा नेतृत्वगुण से सम्पन्न थे, उन्होंने इस पाठ्य प्रणाली का डटकर विरोध किया और प्राचीन पद्धति की गुरुकुल प्रणाली का समर्थन किया। उनके जीवन काल में तो गुरुकुल प्रणाली का उतना प्रचार प्रसार नहीं हुआ किन्तु उनके परलोक पधारने के पश्चात् महात्मा मुंशीराम (पीछे स्वामी श्रद्धानन्द) स्वामी दर्शनानंद आदि महानुभावों ने गुरुकुल प्रणाली के प्रचार में सराहनीय प्रयत्न किये। महात्मा